

# भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन : राष्ट्रवादी इतिहास दृष्टि



प्रीति रानी

शोध-छात्रा, इतिहास, बी.आर.ए.  
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

एरिक हॉब्सबॉम ने अपनी पुस्तक द एज ऑफ कैपिटल के पॉचवे अध्याय 'बिल्डिंग नेशन्स' के आरंभ में फ्रेंच इतिहासकार अर्नेस्ट रेनन के 11 मार्च 1882 को सौरबोर्न में दिये व्याख्यान 'व्हाट इज ए नेशन' की पंक्ति उद्धृत की है। उन्नीसवीं सदी के अंत में अर्नेस्ट रेनन यह पूछ रहे थे कि राष्ट्र क्या है? अपने व्याख्यान में (संभवतः पहली बार) रेनन ने विस्तार से 'राष्ट्र' और उसकी अवधारणा पर विचार किया था, उन्होंने राष्ट्र को 'प्रतिदिन जनमत संग्रह' कहा। 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति का उसे परिणाम माना। जनता सामान्य रूप से जो भूलती और स्मरण करती है, उस पर उन्होंने 'राष्ट्र' को आधारित कहा।<sup>1</sup> मेरिअम—वेशस्टर शब्दकोष के अनुसार 'नेशन' का सर्वप्रथम प्रयोग 14वीं सदी में हुआ और 'नेशनलिज्म' का 1844 में। अंग्रेजी का नेशन लैटिन के छंजपव से उत्पन्न है, जिसका अर्थ लोग (पीपल), आदिम जाति, जनजाति (ट्राइब) संबंधी, रिश्तेदार, सगोत्र (किन), गण (जीनस) वर्ग (क्लास) और समूह, दल (फ्लॉक) है। अंग्रेजी में 'नेशन' का आगमन पुराने फ्रेंच शब्द 'नैसिअन' से हुआ, जिसका साहित्यिक अर्थ 'जन्म' है। 'स्टेट' और 'कंट्री' के पर्याय रूप में भी 'नेशन' का प्रयोग होता है।

1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति और 1848 की ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात्, विश्व पूर्ववत् न रहकर रूपान्तरित हुआ। इस 'दोहरी क्रान्ति' के बाद एक नया समाज जन्मा। 1789 में फ्रांसीसी क्रान्ति के पहले दुनिया बिल्कुल भिन्न थी। यूरोप में लाख-दो-लाख की आबादी वाले नगरों की संख्या कम थी। दुनिया का बड़ा हिस्सा ग्रामीण था। 'राष्ट्र' (नेशन) एक आधुनिक तथ्य, घटना (फेनोमेन) है, जो फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आया। इसके पहले जो 'राज्य' थे, वे इससे भिन्न थे।<sup>2</sup> स्टीवेन ग्रोसबी ने बिल्कल आइडियाज ऑफ नेशनालिटी : एनसीएंट एण्ड मॉडर्न और हैंस कोह ने द आइडिया ऑफ नेशनलिज्म—ए स्टडी इन इट्स ओरिजिंस एण्ड बैकग्राउण्ड में उस पर विचार किया है। 'राष्ट्र—राज्य' (नेशन स्टेट) का प्रयोग छोटे शहरों से बड़े राज्यों के अन्तर के लिए किया जाता है, और 'बहुराष्ट्रीय राज्य' का प्रयोग नृजातीय, जनजातीय समूह से अन्तर के लिए होता है। 'राष्ट्र' एक सामाजिक धारणा है, एक सांस्कृतिक—राजनीतिक समुदाय है। जनजातीय समूह की तुलना में अवैयक्तिक, अमूर्त और राजनीतिक राष्ट्र—राज्य की अवधारणा या भावना राज्य की आधुनिक व्यवस्था से जुड़ी है। हॉब्सबॉम के अनुसार — 'राज्य ने फ्रेंच राष्ट्र का निर्माण किया, न कि फ्रांसीसी राष्ट्रवाद का, जो

उन्नीसवीं सदी के अन्त में जन्मा।<sup>4</sup> फ्रांसीसी क्रान्ति के समय केवल आधी जनता कुछ—कुछ फ्रेंच बोलती थी। साफ और धाराप्रवाह बोलने वालों की संख्या मात्र दस—बारह प्रतिशत थी। ‘राष्ट्र’ के अस्तित्व में आने के बाद ही ‘राष्ट्र—राज्य’ प्रचलन में आया। यूरोप में भाषाई एकता ‘राष्ट्र—निर्माण’ का आधार बना। राष्ट्र में क्षेत्र, जाति, भाषा, धर्म, संस्कृति, सभ्यता सबका महत्व है। राष्ट्र और ‘राष्ट्रवाद’ यूरोपीय धारणाएँ हैं।

आधुनिक काल से पूर्व न तो ‘राष्ट्र’ था और न ‘राष्ट्रवाद’। फ्रांस की क्रान्ति से आज तक ‘राष्ट्र’ और ‘राष्ट्रवाद’ एक समान नहीं रहा है। हॉब्सबॉम ने अपनी पुस्तक नेशंस एण्ड नेशनलिज्म, सिंस 1780 : प्रोग्राम, मिथ, रियलिटी में इन दोनों के बदलते रूपों/पक्षों पर विचार किया है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक ‘राष्ट्र’ और ‘राष्ट्रवाद’ की चर्चा कम थी। जोहान्न नेस्ट्राय ने 1862 में पूछा था— “‘राष्ट्रीय’ (नेशनल) क्या है? जब कोई भी आपकी बोली हुई भाषा का एक शब्द भी नहीं समझता।” ‘राष्ट्र’ और ‘राष्ट्रवाद’ के झंडे 1880 से 1914 के बीच अधिक लहराये गये। द एज ऑफ एम्पीयर का समय हॉब्सबॉम 1880 से 1914 के बीच मानते हैं। उनकी इस पुस्तक के छठे अध्याय का शीर्षक है— ‘वेपिंग फ्लैग्स : नेशंस एण्ड नेशनलिज्म’। इसी समय में ‘राष्ट्रवाद’ ने आगे की छलौंग लगाई और इसका वैचारिक तथा राजनीतिक ‘कंटेंट’ रूपान्तरित हुआ। उन्नीसवीं सदी के अंत में दक्षिणपंथी विचारधारा के रूप में फ्रांस और इटली में यह पहली बार प्रस्तुत हुआ—विदेशियों, उदारवादियों और समाजवादियों के विरुद्ध राष्ट्रीय ध्वज लहराने, घुमाने के इच्छुक रूप में, अपने राज्य के आक्रामक विस्तार के पक्ष में।<sup>5</sup>

ब्रिटिश, औपनिवेशिक इतिहासकार जेम्स मिल ने सर्वप्रथम धार्मिक पहचान के साथ शासक और साम्राज्य को द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया में जोड़ा। उसने भारत के इतिहास को तीन कालखण्डों— हिन्दू, मुस्लिम और ब्रिटिश में विभाजित किया।<sup>6</sup> इस विभाजन का आधार धार्मिक था। भारतीय इतिहास को प्रभावित करने वाला यह प्रमुख कारक है। इस इतिहास—लेखन और इतिहास—दृष्टि का प्रभाव आज भी मौजूद है। भारतीय इतिहास और उसकी विविधता को ‘धर्म’ तक सीमित करने के इस षड्यंत्रकारी प्रयत्न ने कम क्षति नहीं पहुँचाई। बाद में यह नये सिरे से विकसित होता रहा है। प्राक्—औपनिवेशिक भारत औपनिवेशिक भारत से भिन्न था। उस समय जाति, धर्म, भाषा के साथ कई अस्मिताएँ एक साथ विद्यमान थीं। धर्म—विशेष का भी कोई मोनोलीथिक रूप नहीं था। उसके अन्तर्गत कई सम्प्रदाय थे। इन सम्प्रदायों के बीच संवाद जारी थे। साम्प्रदायिक और धार्मिक कट्टरता का कहीं कोई चिह्न नहीं था। अंग्रेजों ने मुख्यतः उन्नीसवीं सदी के आरंभ से इस विविधता और सहिष्णुता को क्रमशः हिलाना प्रारंभ किया। रोमिला थापर काल विभाजन की इस अवधारणा के पीछे ‘द्विराष्ट्रवाद’ के सिद्धान्त को काम करते देखती हैं, जिसमें हिन्दू और मुसलमान को स्थायी रूप से एक—दूसरे के विरोधी और शत्रु के रूप में उपस्थित किया गया। भारत में मौर्य, चेरा, पांड्या, चालुक्य, मुगल, बहमनी के साम्राज्य और राज्य थे, पर वहाँ न कोई ‘राष्ट्र’ था न ‘राष्ट्रवाद’।<sup>7</sup>

यूरोप में राष्ट्रवाद के जन्म के बाद भी राष्ट्रवाद पर यूरोप का वर्चस्व और राष्ट्रवाद का यूरोपीय स्वरूप ही नहीं बना रहा है। इसने यूरोपीय वर्चस्व का प्रतिकार किया। यूरोप में राष्ट्रवाद का प्रमुख स्वरूप राजनीतिक है, जो अफ्रीकी देशों और भारत से भिन्न है। टैगोर ने अपने लेख 'नेशनलिज्म इन इंडिया' में भारत की वास्तविक समस्या को राजनीतिक न मानकर सामाजिक माना है।<sup>18</sup> इस सामाजिक समस्या को उन्होंने कई देशों में भी देखा। राजनीति में पश्चिम में पश्चिमी आदर्शों को प्रमुख माना। यूरोप में आरंभ से ही जातीय एकता रही है। वहाँ के निवासियों के लिए प्राकृतिक संसाधन अपर्याप्त थे। इसलिए वहाँ की सभ्यता ने स्वाभाविक रूप से राजनीतिक और वाणिज्यिक आक्रमण का चरित्र ग्रहण किया। उनके यहाँ किसी प्रकार की आन्तरिक जटिलता और उलझन नहीं थी।

टैगोर का भारतीय राष्ट्रवाद का विचार सर्वोत्तम रूप में 'द्वैधवृत्ति' (एम्बीवेलेंस) पद में अभिव्यक्त हुआ है। राज्य केन्द्रित सभ्यता के यूरोपीय मॉडल से भिन्न उन्होंने 'समन्वयात्मक सभ्यता' की धारणा को राष्ट्रवादी सभ्यता एकता के आधार रूप में रखा, जहाँ समाज को केन्द्रीयता दी गयी है। प्रथम विश्वयुद्ध के दौर में व्यक्त टैगोर के राष्ट्रवाद संबंधी विचार हमारे लिए आज कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। 1917 के बाद वे आधुनिक भारतीय राष्ट्र और राष्ट्र-राज्य के आलोचक के रूप में उभरे। टैगोर ने अपने आलेख में पश्चिम में राष्ट्रवाद की स्वार्थपरता को संगठित करने की आलोचना की। उन्होंने भारत में राष्ट्रवाद की इस परायी धारणा की प्रतिकृति की भी आलोचना की। टैगोर के राष्ट्रवाद की दार्शनिक क्रिटीक भारतीय परम्परा-विशेषतः ब्रह्म विरासत और वेद-उपनिषद के व्यापक फैलाव से जुड़ी है, इनके विचारों पर आधारित है। रवीन्द्र के समक्ष देश से कहीं अधिक महत्व मानव जाति का था। उन्होंने केवल एक इतिहास, मानव-इतिहास माना और सभी राष्ट्रीय इतिहासों को मानव-इतिहास के अध्याय के रूप में देखा। ये दूसरों के इतिहास को लेने के विरुद्ध था। उनका यह स्पष्ट मत था कि जब हम अपने जीवन से सर्वथा भिन्न और अलग दूसरों की चीजों को ग्रहण करते हैं, तब हम अपने जीवन को स्वयं रौंद डालते हैं। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में सुनाई पड़ने वाली आवाज को हमने महत्व नहीं दिया। टैगोर किसी एक राष्ट्र विशेष के विरुद्ध नहीं थे। वे राष्ट्रों के सामान्य विचारों और धारणाओं के खिलाफ थे। उनके अनुसार राष्ट्रवाद एक बड़ा संकट और खतरा है।<sup>19</sup> भारत की भिन्नता अन्य देशों की तुलना में उनकी दृष्टि में इसलिए भिन्न थी कि यहाँ सभी जातियों-प्रजातियों, भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियों के लोग एक साथ वास करते हैं। भाषा, धर्म, क्षेत्र, वर्ण और जाति के आधार पर निर्मित 'राष्ट्रवाद' भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। रवीन्द्र मनुष्य को किसी एक भू-भाग से न जोड़कर सम्पूर्ण विश्व से जोड़ते थे।

अक्सर तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रवाद के उत्थान को उद्योगीकरण, नगरीकरण और मुद्रण-पूँजीवाद से बढ़ावा मिला। जैसा कि बेनेडिक्ट एंडरसन (1983) का कथन है, ऐसा माना जाता है कि एशिया और अफ्रीका के विकासशील जगत में राष्ट्रवाद का विकास पश्चिम में

विकसित इस या उस मॉडल की तर्ज पर हुआ।<sup>10</sup> अपने स्वयं के इतिहास को निर्धारित करने में एशिया की जनता को बौद्धिक शक्ति से वंचित माननेवाले इस सिद्धांत की हाल में अनेक वैचारिक दृष्टिकोणों से आलोचना हुई है। उदाहरण के लिए, पार्थ चटर्जी (1993) का तर्क यह है कि अगर निमित्त कारण का निर्धारण और हमारे भाग्य का निश्चय पश्चिम ने किया और उपनिवेशी व्यवस्थाओं के विरुद्ध हमारे प्रतिरोध के रूप भी हमारी ओर से उसी ने सोचे, तो फिर हमारे पास सोचने के लिए भला रहा क्या? इसलिए उनका तर्क यह है कि सत्ता के लिए राजनीतिक संघर्ष के आरंभ से बहुत पहले ही भारतीय समाज एक निजी सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने राष्ट्रत्व की कल्पना करने लगा था, भले ही राज्य तब उपनिवेशकों के हाथों में था। इसी जगह आकर उसने प्रभुसत्ता के अपने स्वयं के क्षेत्र के बारे में सोचा और ऐसी भारतीय आधुनिकता का निर्माण किया जो आधुनिक तो थी पर पाश्चात्य नहीं थी।<sup>11</sup> यहीं से, अर्थात् उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में स्वतंत्रता के लिए एक क्षेत्र के इसी सांस्कृतिक निरूपण से, भारतीय राष्ट्रवाद के कार्यकलापों का आरंभ हुआ।

दूसरी ओर, सी.ए. बेइली (1998) के अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद उपनिवेश—पूर्व काल में ही जड़ पकड़ने लगा था; इसका जन्म उनके शब्दों में “पारंपरिक देशभक्ति” से हुआ, जो “भूमि, भाषा और पथ से लगाव की एक सामाजिक स्तर पर सक्रिय भावना थी” और उपमहाद्वीप में इस भावना का विकास पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के आरंभ से बहुत पहले हुआ।<sup>12</sup> अठारहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों के भारत में क्षेत्रीय आधार पर ऐसी भावनाओं का विकास होने लगा था, जब जन्मभूमि की परिभाषा देश, वतन या नाड़ु के रूप में की जाने लगी थी तथा क्षेत्रीय भाषाओं और धार्मिक संबद्धताओं के विकास के साथ धीरे—धीरे पहचानों का निर्माण होने लगा था। लेकिन बंगाल, महाराष्ट्र, अवध या मैसूर में केंद्रित होकर भी संचार के विभिन्न साधनों के कारण उनका अलगाव भंग हुआ। मुगल साम्राज्य की राजनीतिक वैधता पूरे हिंदुस्तान में स्वीकार की जाती थी, जिसे हिंदू—मुसलमान दोनों का देश समझा जाता था तथा सांस्कृतिक बाधाएँ व्यापार और नियमित तीर्थयात्राओं के कारण हवा हो जाती थीं। बेइली का कथन यह है कि जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना वर्चस्व स्थापित किया, तो यह पारंपरिक देशभक्ति सुशासन की सुस्थापित नैतिक परंपराओं से भटक चुके विदेशी राज की विभिन्न प्रकार की देसी समालोचनाओं में और ईसाई मिशनरियों के प्रचार के विरुद्ध क्रुद्ध प्रतिक्रियाओं में व्यक्त हुई। आखिरी बात यह कि वह प्रतिरोध की अनेक कार्रवाईयों में फूटकर सामने आई, जिनमें राजाओं और साधारण जनता दोनों ने भाग लिया और जिनका चरम उत्कर्ष 1857 का विद्रोह था। विद्रोह के बाद भारत में शिक्षा के तीव्र प्रसार, रेल और तार जैसी संचार व्यवस्थाओं के विकास तथा उपनिवेशी संस्थाओं के कारण उत्पन्न सार्वजनिक कर्मक्षेत्र के कारण धीरे—धीरे राजनीति का एक आधुनिक स्वरूप सामने आया। इस दौर में हालांकि ‘‘पुराना देशप्रेम’’ पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ, फिर भी, अगर हम इस मुद्दे पर फिर से पार्थ चटर्जी की बात याद करें तो उसे नए

सिरे से ढालकर एक ऐसी नई उपनिवेशी आधुनिकता पैदा की गई, जो पश्चिम की आधुनिकता से भिन्न थी।<sup>13</sup>

1857 के बाद का भारतीय राजनीतिक इतिहास, अर्थात् उस समय का इतिहास जब उपनिवेशी व्यवस्था के साथ राजनीतिक टकराव कुछ अधिक आधुनिक संस्थाबद्ध सार्वजनिक कर्मक्षेत्र में आरंभ हुआ, बहुआयामी है। पहली बात तो यह है कि 1857 के बाद उपनिवेशवादी नीतियों में एक रुद्धिवादी प्रतिक्रिया का समावेश हुआ। भूस्वामी कुलीनों का पुनर्वास करने और उन्हें मजबूत बनाने के प्रयास किये गये, क्योंकि वे जनता के ‘स्वाभाविक’ नेता समझे जाते थे। अकेले वही “जनता की वफादारी पा सकते” थे और इसलिए वे ही एक कमजोर उपनिवेशी राजसत्ता के विश्वसनीय सहयोगी हो सकते थे।<sup>14</sup> इस नई साम्राज्यिक समाज व्यवस्था में देशी राजाओं को 1877 के उस शाही दरबार में प्रमुखता का पद दिया गया था, जिसमें महारानी विक्टोरिया ने भारत की साम्राज्ञी का पद धारण किया और जिसे तत्कालीन वायसरॉय लॉर्ड लिटन ने देश के कुछ भागों में अकाल के बावजूद बड़े तड़क-भड़क के साथ आयोजित किया था।<sup>15</sup> उनके अलावा अब बड़े जमींदार भी उपनिवेशी प्रशासन के ढाँचे में एक प्रमुख भूमिका निभाने लगे।

जमींदारों और शिक्षित भारतवासियों की ब्रिटिश राज में असंदिग्ध निष्ठा की सरकारी मान्यता का आधार यह था कि ये वर्ग ब्रिटिश राज की दैवी प्रकृति में आस्था की घोषणा करते थे और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के किसान विद्रोहों के प्रति अपमान का रवैया अपनाते थे, जैसे उन्होंने बाद में 1857 के विद्रोह की निंदा की। लेकिन यह तो कहा जा सकता है कि यह एक गलत धारणा थी। क्योंकि राज के प्रति वफादारी के पीछे अपनी अधीनता की अवस्था से जुड़े तिरस्कार की चेतना भी बढ़ रही थी।

बढ़ते नस्ली तनाव, धर्मात्मकण के डर और बेंथमवादी प्रशासकों के सुधारवादी उत्साह ने पढ़े-लिखे भारतवासियों को विवश कर दिया कि वे ठहरकर अपनी स्वयं की संस्कृति पर एक गहरी नजर डालें। इससे वह प्रक्रिया पैदा हुई जिसे बरनार्ड कोहन (1987) ने संस्कृति का “विषयीकरण” कहा है, जिसमें शिक्षित भारतवासियों ने अपनी संस्कृति को ऐसी ठोस इकाई के रूप में निरूपित किया, जिसका आसानी से उद्धरण दिया जा सके, तुलना की जा सके, उल्लेख दिया जा सके और विशेष उद्देश्यों से जिसका उपयोग किया जा सके।<sup>16</sup> यह नई सांस्कृतिक परियोजना, जिसने अपने आपको अंशतः उन्नीसवीं सदी के सामाजिक और धार्मिक सुधारों के माध्यम से व्यक्त किया, उसका सूत्र शब्द “पुनर्जागरण” में निहित था। इसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति को “शुद्ध” करना और इस तरह उसकी “पुनर्खोज” करना था कि वह बुद्धिवाद, अनुभववाद, एकेश्वरवाद और व्यक्तिवाद के यूरोपीय आदर्शों से मेल खाए। इसका उद्देश्य यह दिखाना था कि भारतीय सभ्यता किसी भी तरह पश्चिम की सभ्यता से हीन नहीं है, बल्कि एक अर्थ में, अपनी आध्यात्मिक सिद्धियों में, उससे श्रेष्ठ भी है। पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृति के

विपरीत भारतीय सभ्यता के आध्यात्मिक मूल में गर्व के इस भाव ने भारतवासियों को न केवल अपने निजी जीवन को पुनर्गठित और गरिमामय बनाने में मदद दी, बल्कि इसकी वैचारिक प्रेरणा ने एक नये—नये पैदा हो रहे सार्वजनिक कर्मक्षेत्र में उपनिवेशी राजसत्ता का सामना करने के लिए उनको प्रेरित भी किया। दूसरे शब्दों में, इसने उस आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद को वैचारिक आधार भी प्रदान किया, जो उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्ष में विकसित हुआ।

### निष्कर्ष

हो सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद का विकास जैसा कि बेनेडिक्ट एंडरसन ने सोचा है उस तरह से पश्चिमी प्रभावों का परिणाम न रहा हो, लेकिन पश्चिमी शिक्षा की भूमिका फिर भी महत्वपूर्ण थी, क्योंकि उसने उसके फलने—फूलने के लिए एक आलोचनात्मक लोक—संवाद को जन्म दिया। अगर इस शिक्षा का उद्देश्य पढ़े—लिखे भारतीयों के मन का उपनिवेशीकरण करना और उनमें वफादारी की एक भावना भरना था, तो इन भारतीयों ने भी उपनिवेशवाद के प्रति अपनी समालोचना तैयार करने के लिए वर्चस्व के इस ज्ञान का चयनित उपयोग और उसमें फेरबदल किया। लेकिन भारतवासियों के विभिन्न समूहों में इस आलोचनात्मक चेतना के स्तर अलग—अलग थे, क्योंकि स्वयं शिक्षा का प्रसार अत्यंत असमान था। भारत में उच्च शिक्षा का तेजी से प्रसार तब शुरू हुआ जब 1857 में तीनों प्रेसिडेंसियों में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए और 1882 में शिक्षा एक मुक्त उद्यम बन गई। लेकिन यह प्रसार अत्यंत असमान था और स्पष्ट है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में राजनीतिक चेतना के असमान विकास से इसका संबंध था।

### सन्दर्भ सूची:-

1. एरिक हॉब्सबॉम, द एज ऑफ कैपिटल 1848–1875, विन्टेज बुक्स, न्यूयॉर्क, 1975.
2. स्टीवेन ग्रोसबी, बिब्लिकन आइडियाज ऑफ नेशनलिटी : एनसिएट एण्ड मॉडर्न, वीनोना लेक, आइजेनव्रस, 2002.
3. हैंस कोह, द आइडिया ऑफ नेशनलिज्म : ए स्टडी इन इट्स ओरिजिंस एण्ड बैकग्राउण्ड, मैकमिलन, न्यूयॉर्क, 1944.
4. हॉब्सबॉस (1975), पूर्वकृत.
5. एरिक हॉब्सबॉम, नेशंस एण्ड नेशनलिज्म सिंस 1780: प्रोग्राम, मिथ, रियलिटी, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1992.
6. जेम्स मिथ, द हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया, बाल्डविन, लंदन, 1817.
7. रविभूषण, “राष्ट्रवाद और अभिव्यक्ति की आजादी” संकलित : रविकान्त (सम्पा.) आजादी और राष्ट्रवाद, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ.41.

8. रविन्द्रनाथ टैगोर, नेशनलिज्म इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड, लंदन, 1917.
9. रविभूषण (2018), पूर्वोक्त, पृ.44.
10. बेनेडिक्ट एंडरसन, इमैजिन्ड कम्युनिटीज़: रिप्लेक्शन्स आँन द ओरिजिन एण्ड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज्म, वर्सो, लंदन, 1983.
11. पार्थ चटर्जी, द नेशन एण्ड इट्स फ्रैगमेंट्स : कोलोनियल एण्ड पोस्ट-कोलोनियल हिस्ट्रीज, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1993, पृ. 5–7.
12. सी.ए. बेइली, ऑरिजिन ऑफ नेशनलिटी इन साउथ एशिया: पैट्रोटिज्म एण्ड इथिकल गवर्नमेंट इन द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1998, पृ. 79.
13. शेखर बंधोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक और उसके बाद, ऑरिएंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 206.
14. थॉमस, आर. मेटकाँफ, द आफ्टरमैथ ऑफ रिवोल्ट : इंडिया, 1857–1870, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1965, पृ. 323–324.
15. शेखर बंधोपाध्याय (2016), पूर्वोक्त, पृ. 206.
16. बर्नाड एस.कोहन, ऐन एनथ्रोपालॉजिस्ट अमांग द हिस्टोरियन्स एण्ड अदर एस्सेज, ऑक्सफोर्ड, दिल्ली, 1987, पृ. 189.